

मानवीयता का उपसंहार



चेतना उपाध्याय*

कुछ कहानियां कितनी सच्ची सी होती हैं। पढ़ते-पढ़ते ही लगता है कि आसपास में ही घटित होती प्रतीत हो रही हैं। ऐसी ही एक कहानी "सम्मान की पेंशन" अभी मुझे पढ़ने का अवसर मिला... जो मुझे उड़ाकर 35-40 वर्ष पूर्व के मेरे बचपन में ले गया। हर पात्र मेरा अपना करीबी सा लग रहा था। हर घटना वैसी ही तो थी जैसी तब हुआ करती थी। रज्जो बुआ, बड़की ताईजी, बड़े दादाजी, नीलम चाची, छोटी दादी, मम्मी, पापा के बीच घटने वाली घटनाएं सभी कुछ वैसी ही थी। जो अभी कहानी में घटती दिखाई दे रही थी। बात बेबात उलझते थे... और पल में ही सुलझ जाते थे। सुलझाने के लिए दादीजी का निगाह भर देख लेना ही काफी होता था। कभी दादाजी के खखारने की आवाज मात्र सुलझा जाती थी समस्याओं को। इस कहानी का अंत ऐसे ही सहजता से समझाने वाला था। मानो कहीं कुछ उलझा ही ना हो। इशारों में ही अपनी गलती समझ आ जाती थी और पल में ही स्वीकार ली जाती थी। बड़ों के मान की रक्षा करना छोटों का कर्तव्य हुआ करता था। जिसकी आपूर्ति वे बड़े ही सहज स्वाभाविक रूप में करते ही थे। पापा, मम्मी, चाचीजी हो या ताईजी किसी को मैंने दादाजी-दादीजी या ताऊजी पर पलटवार करते ना देखा था। दादी जी की आज्ञा बिना घर का पत्ता भी नहीं हिलता। पर किसी अन्य के भीतर हीनता बोधक ग्रन्थि कभी पैदा होती दिखाई नहीं दी। सभी कुछ संयुक्त परिवारों की ज्ञान बान शान पर सहजता से कुर्बान होता था। रिश्तों की मर्यादा सहज स्वीकार्य दिखाई पड़ती थी।

फिर शुरू हुआ परिवारों में नारीवादी/पुरुषवादी सोच का दौर... इससे पहले हम दादा/दादी, नाना/नानी जैसे रिश्तों की डोर में गुंथे रहते थे... अब नारीवादी/पुरुषवादी सोच मुखरित हो रिश्तों से बाहर पैर पसारने लगी पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को चारदीवारी के मध्य सुरक्षा की बजाय घुटन का एहसास होने लगा, उतना ही स्त्री घुटन बढ़ने लगी। स्त्री पुरुष समानता का दौर विकृत समाज की भेंट चढ़ता गया। स्त्री कमतर से कामतरी की ओर बढ़ने लगी। परिवारों में जो स्त्रियां, शास-बहू, देवरानी-जेठानी, ननद-भाभी हुआ करती थी छोटी-मोटी नोक-झोंक, निंदा इसका भरपूर आनंद लेते हुए जीवन यापन करती थीं... साथ ही अपनी पारिवारिक परंपराओं का तहे दिल से अनुपालन करती थीं। तीज त्योहार परिवारों की कड़ी से कड़ी जोड़ने का कार्य कर ही जाते थे। सामाजिक अंकुश भी फेंविकोल की भूमिका अदा कर ही जाता था।

सबकुछ धीरे-धीरे समय की भेंट चढ़ गया। रिश्तों की डोरी कच्ची पड़ती गई और उसमें गुंथे रिश्ते रूपी मोती बिखर स्वतंत्र व्यक्तित्व में तब्दील हो गए। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व का मालिक हो गया। शैक्षिक व्यावसायिक समानता ने स्त्री को पंख दिए। ये वही पंख थे जो कभी पारिवारिक मान्यताओं के तहत बेरहमी से कतर दिए जाते थे। पंख कतरने के बाद भी स्त्रियां पारिवारिक हौसले की बढौलत कभी मां तो कभी बेटी, कभी बहू तो कभी शास के रूप में उड़ान भर ही लेती थी। क्योंकि वह जानती थी असली उड़ान पंखों से नहीं हौसलों से होती है।

आज सभी के पास व्यक्तिगत पंख ही नहीं व्यक्तिगत आकाश भी मौजूद है। आप सभी जानते हैं धरती के पास अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति होती है। जैसे-जैसे आप पृथ्वी से दूर आकाश की ओर जाते हैं वह गुरुत्वाकर्षण शक्ति क्षीण होती जाती है। परिणाम स्वरूप हम धुरी से जुड़े नहीं रह पाते व पता ही नहीं चलता उड़ते-उड़ते कब आपस में टकरा जाते हैं... टकराते जाते हैं। क्योंकि पंख ही नहीं आकाश भी हमारा अपना है, गति भी हमारी अपनी है दिशाएं भी हमारी अपनी हैं अतः उलझने भी नित्य नवीन अपनी ही हैं। जिससे हमारे हौसले भी जवाब दे रहे हैं। जिस धरती पर हम सहजता से स्थिर रह लिया करते थे आकाश को देखकर जी लिया करते थे आज इतना स्थिर व संतुलित रह पाना हमारे लिए बहुत मुश्किल हो गया।

* वरिष्ठ व्याख्याता,
जिला शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान, मसूदा (अजमेर)।

वैसे यह खदबदाहट छोटी बुआ और रानू चाची की शादी के बाद से ही सुनाई व दिखाई देने लगी थी... मगर हां दादीजी के नेतृत्व के चलते मुखरित नहीं हो पाती थी अक्सर ही ताई जी ढाल बनकर समस्याओं को अपने साथ किनारे से बहा ले जाती थी। समय हवा के घोड़े पर सवार हो तेजी से आगे निकल जाता था। तभी तो सारे रिश्ते पीढ़ी दर पीढ़ी आत्मानुशासित स्वरूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अनुभवों की पोटली थमाते आगे बढ़ते रहे। परिवर्तन संसार का नियम है, होना ही है।

किंतु आज का समय कितना बदल गया? कुछ समझ नहीं आता... कहीं कोई बड़ा नहीं, कहीं कोई छोटा नहीं, उसके बावजूद श्री समानता की आंधी इतनी जबरदस्त ? ऐसा लगता है चारों ओर जंगल सा माहौल। हम और हमारे परिजन एक दूसरे को कच्चा निगल जाने को आतुर। सामाजिक रिश्ते, सामाजिक मर्यादाएं सब कुछ स्वाहा... चारों ओर आग ही आग। कहीं थोड़ा दूर देखने का प्रयास करो तो सिर्फ धुंआ ही धुंआ... रिश्तों का धुंआ। समाज, मानव समाज, सामाजिक गठबंधन इतने ढीले पड़ गए कि दिखाई ही नहीं दे रहे?

हमने पुस्तकों में पढ़ा था, आदिमानव जब जंगलों में रहा करता था उसने सभ्यता, सामाजिकता की ओर कदम बढ़ाने से पूर्व पत्थर से पत्थर टकराकर आग जलाना सीखा था और अब आज सभ्य समाज में रहते हुए मानव को अनेक युग बीत चुके हैं। तो वह शनैः शनैः मानव से मानव टकराकर आग लगाने के तरीके सीख चुका है। कब, कहां, कैसे ? का कोई सानी नहीं। हल्की सी टकराहट चिंगारी ही नहीं सीधे आग की लपटें छोड़ देती है कब, कहां, कैसे, कौन झुलस जाए कुछ कहा नहीं जा सकता। जंगलराज चारों ओर पसरता ही जा रहा है। ऐसा लगता है कि मानो आदिकाल में आदिमानव ने इस तरह से अपने मस्तिष्क की विलक्षण क्षमताओं का सदुपयोग कर सभ्य समाज की ओर कदम बढ़ाए थे, ठीक उसी प्रकार ही वर्तमान मानव अपने मस्तिष्क की विलक्षणताओं का उपयोग कर उन्मुक्तता के साथ जंगलों की ओर कदम बढ़ा रहा है। जंगली जीवन की उन्मुक्तता उसे बड़ी ही गर्मजोशी से आकर्षित कर रही है यह आकर्षण इतना जबरदस्त है कि हमें स्वतंत्रता व स्वच्छन्दता के मध्य अंतर समझ ही नहीं आ रहा। हम दौड़े चले जा रहे हैं। कहां जाना है नहीं जानते हैं क्योंकि लक्ष्य निर्धारित करने, अपेक्षित योजनाएं बनाने फिर उसकी क्रियान्वयन को अमलीजामा पहनाने जैसे अत्यावश्यक मुद्दों पर कार्य हेतु हमारे पास समय ही नहीं है। आदि काल में हमने सूर्योदय के साथ पूर्व से अपनी दौड़ प्रारम्भ की थी, अब दौड़ते-दौड़ते हमारे कदम पश्चिम तक पहुंच रहे हैं। ठीक वैसे ही जैसे हमने जंगलों से दौड़ लगाई थी... सभ्य समाज की ओर। आज हम सभ्य समाज के मुहाने पर हैं। जहां से जंगल स्पष्ट दिखाई दे रहा है... मगर हम अपनी दौड़ पर नियंत्रण रख पाने की स्थिति में अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं। हमारी आंखों पर प्रगतिवादिता की पट्टी चढ़ी हुई है जिसके कारण हमारी नेत्र ज्योति कुछ धुंधला सी रही है। हम अपनी स्थिति स्पष्ट रूप में देख नहीं पा रहे हैं फिर चहुंओर स्वार्थ की आंधी श्री इतनी तीव्र है कि हमें पता ही नहीं चलता कि हम कब उस बयार से प्रभावित हो उसकी रो में बहने लगे हैं।

पुस्तकीय ज्ञान और अनुभवी ज्ञान का खजाना हम महसूस ही नहीं कर पा रहे हैं, उसके उपयोग की तो बात ही पैदा नहीं होती। हमारे बुजुर्ग, युवा और बालक सभी कुंठित से एक दूसरे की आस में एक दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। इंसान स्त्री पुरुष सभी दो खेमों को कभी जोड़ता, कभी तोड़ता, कभी उलझता प्रतीत हो रहा है। तीसरा खेमा किन्नरों का भी मुखर होता जा रहा है। अस्तित्व की लड़ाई के चक्कर में हम सभी अस्तित्वविहीन होते महसूस हो रहे हैं। बुजुर्गों के सानिध्य में कभी बालकों को अपना बालपन जीने के भरपूर अवसर मिल जाया करते थे। युवा पीढ़ी उनमें फेविकोल का जोड़ की भूमिका अदा करती थी। और स्वयं स्वतंत्रता पूर्वक दैनन्दिनी के कार्यों में अपनी ऊर्जा का सदुपयोग किया करती थी... आज युवा पीढ़ी बुजुर्गों व बालकों के मध्य पत्थर की ठोस दीवार बनी खड़ी है परिणाम स्वरूप वृद्ध बालकों सी हरकतें करने लगे हैं, व बालक युवाओं सी। हमने पुस्तकों में पढ़ा था की बालक बूढ़े एक समान... जी हां वे मासूमियत निश्चलता में एक समान होते हैं। शारीरिक क्षमता में भी तनिक सी समानता होती है। बालकों की मांसपेशियों व तंत्रिका तंत्र में आपसी सामंजस्य अभी पूरी तरह प्राप्त नहीं हो पाया होता है तो बुजुर्ग उस संतुलन के क्षय को भोग रहे होते हैं। दोनों ही इस रूप में लगभग समान। जी हां अल्प क्षमता वाले मगर वर्तमान स्थिति विकट है। परिवारों के वे ताने-बाने जो पूर्व में हुआ करते थे आज नदारद हैं। अपनी अपनी स्वतंत्र छवि गढ़ने को आतुर हमारे परिजन स्नेह पिपासा में ही दुनिया से रुखसत हो रहे हैं। सोशल मीडिया पर ही मात्र स्नेह स्रोत बरसते दिखाई देते हैं। शेष जगह तो प्यास और सिर्फ प्यास व्याप्त है। जिससे एक अधूरापन, खोखलापन सा अभी को परेशान कर रहा है। कोई किसी को समझना ही नहीं चाहता मगर अपेक्षा यही रहती है कि सामने वाला हमें समझे। हम मानवीय अनुभूतियों से परे होते जा रहे हैं... अब इस करोनासंकट ने हमें प्राकृतिक स्वरूप में भी सामाजिकताओं से दूर कर दिया है...। हम कहां थे, कहां जा रहे हैं... जहां से चले थे वहीं जा रहे हैं। माटी के पुतले माटी में समाने जा रहे हैं। आज आवश्यकता है हम दो पल ठहरे.. विचारे... हो सकता है हमारी आगामी पीढ़ी समाज में थोड़ा और टिकी रह पाए।
